

○

~ ~

अथाष्टादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

सन्न्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।  
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥

अर्जुन बोले—हे महाबाहो ! हे अन्तर्यामिन् ! हे वासुदेव ! मैं संन्यास और त्यागके तत्त्वको पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूँ ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्न्यासं कवयो विदुः ।  
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥

श्रीभगवान् बोले—कितने ही पण्डितजन तो

काम्य कर्मोंके<sup>१</sup> त्यागको संन्यास समझते हैं तथा दूसरे विचारकुशल पुरुष सब कर्मोंके फलके त्यागको<sup>२</sup> त्याग कहते हैं ॥ २ ॥

**त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।  
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥**

कई एक विद्वान् ऐसा कहते हैं कि कर्ममात्र दोषयुक्त हैं, इसलिये त्यागनेके योग्य हैं और दूसरे विद्वान् यह कहते हैं कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागनेयोग्य नहीं हैं ॥ ३ ॥

**निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।  
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः ॥**

हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन! संन्यास और त्याग, इन

१. स्त्री, पुत्र और धन आदि प्रिय वस्तुओंकी प्राप्तिके लिये तथा रोग-संकटादिकी निवृत्तिके लिये जो यज्ञ, दान, तप और उपासना आदि कर्म किये जाते हैं, उनका नाम 'काम्यकर्म' है ।

२. ईश्वरकी भक्ति, देवताओंका पूजन, माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवा, यज्ञ, दान और तप तथा वर्णाश्रमके अनुसार आजीविकाद्वारा गृहस्थका निर्वाह एवं शरीरसम्बन्धी खान-पान इत्यादि जितने कर्तव्यकर्म हैं, उन सबमें इस लोक और परलोककी सम्पूर्ण कामनाओंके त्यागका नाम 'सब कर्मोंके फलका त्याग' है ।

दोनोंमेंसे पहले त्यागके विषयमें तू मेरा निश्चय सुन। क्योंकि त्याग सात्त्विक, राजस और तामस भेदसे तीन प्रकारका कहा गया है ॥ ४ ॥

**यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।  
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥**

यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्याग करनेके योग्य नहीं है, बल्कि वह तो अवश्य कर्तव्य है, क्योंकि यज्ञ, दान और तप—ये तीनों ही कर्म बुद्धिमान् पुरुषोंको\* पवित्र करनेवाले हैं ॥ ५ ॥

**एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।  
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥**

इसलिये हे पार्थ! इन यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंको तथा और भी सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको आसक्ति और फलोंका त्याग करके अवश्य करना चाहिये; यह मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है ॥ ६ ॥

**नियतस्य तु सन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।  
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥**

(निषिद्ध और काम्य कर्मोंका तो स्वरूपसे

---

\* वह मनुष्य 'बुद्धिमान्' है, जो फल और आसक्तिको त्यागकर केवल भगवदर्थ कर्म करता है।

त्याग करना उचित ही है) परन्तु नियत कर्मका\* स्वरूपसे त्याग करना उचित नहीं है। इसलिये मोहके कारण उसका त्याग कर देना तामस त्याग कहा गया है ॥ ७ ॥

**दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।  
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥**

जो कुछ कर्म है, वह सब दुःखरूप ही है— ऐसा समझकर यदि कोई शारीरिक क्लेशके भयसे कर्तव्यकर्मोंका त्याग कर दे, तो वह ऐसा राजस त्याग करके त्यागके फलको किसी प्रकार भी नहीं पाता ॥ ८ ॥

**कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।  
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥**

हे अर्जुन ! जो शास्त्रविहित कर्म करना कर्तव्य है— इसी भावसे आसक्ति और फलका त्याग करके किया जाता है—वही सात्त्विक त्याग माना गया है ॥ ९ ॥

**न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।  
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥**

जो मनुष्य अकुशल कर्मसे तो द्वेष नहीं करता और कुशल कर्ममें आसक्त नहीं होता—वह शुद्ध

\* इसी अध्यायके श्लोक ४८ की टिप्पणीमें इसका अर्थ देखना चाहिये।

सत्त्वगुणसे युक्त पुरुष संशयरहित, बुद्धिमान् और सच्चा त्यागी है ॥ १० ॥

**न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।  
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥**

क्योंकि शरीरधारी किसी भी मनुष्यके द्वारा सम्पूर्णतासे सब कर्मोंका त्याग किया जाना शक्य नहीं है; इसलिये जो कर्मफलका त्यागी है, वही त्यागी है—यह कहा जाता है ॥ ११ ॥

**अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।  
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु सन्न्यासिनां क्वचित् ॥**

कर्मफलका त्याग न करनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका तो अच्छा-बुरा और मिला हुआ ऐसे तीन प्रकारका फल मरनेके पश्चात् अवश्य होता है, किन्तु कर्मफलका त्याग कर देनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका फल किसी कालमें भी नहीं होता ॥ १२ ॥

**पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।  
साङ्ख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥**

हे महाबाहो! सम्पूर्ण कर्मोंकी सिद्धिके ये पाँच हेतु कर्मोंका अन्त करनेके लिये उपाय बतलानेवाले सांख्यशास्त्रमें कहे गये हैं, उनको तू मुझसे भलीभाँति जान ॥ १३ ॥

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।  
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥

इस विषयमें अर्थात् कर्मोंकी सिद्धिमें अधिष्ठान<sup>१</sup> और कर्ता तथा भिन्न-भिन्न प्रकारके करण<sup>२</sup> एवं नाना प्रकारकी अलग-अलग चेष्टाएँ और वैसे ही पाँचवाँ हेतु दैव<sup>३</sup> है ॥ १४ ॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।  
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥

मनुष्य मन, वाणी और शरीरसे शास्त्रानुकूल अथवा विपरीत जो कुछ भी कर्म करता है—उसके ये पाँचों कारण हैं ॥ १५ ॥

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।  
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥

परन्तु ऐसा होनेपर भी जो मनुष्य अशुद्ध बुद्धि<sup>४</sup>

१. जिसके आश्रय कर्म किये जायँ, उसका नाम 'अधिष्ठान' है।  
२. जिन-जिन इन्द्रियादिकों और साधनोंके द्वारा कर्म किये जाते हैं, उनका नाम 'करण' है।

३. पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मोंके संस्कारोंका नाम 'दैव' है।

४. सत्सङ्ग और शास्त्रके अभ्याससे तथा भगवदर्थ कर्म और उपासनाके करनेसे मनुष्यकी बुद्धि शुद्ध होती है, इसलिये जो उपर्युक्त साधनोंसे रहित है, उसकी बुद्धि अशुद्ध है, ऐसा समझना चाहिये।

होनेके कारण उस विषयमें यानी कर्मोंके होनेमें केवल शुद्धस्वरूप आत्माको कर्ता समझता है, वह मलिन बुद्धिवाला अज्ञानी यथार्थ नहीं समझता ॥ १६ ॥  
**यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।  
 हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥**

जिस पुरुषके अन्तःकरणमें 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थोंमें और कर्मोंमें लिपायमान नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकोंको मारकर भी वास्तवमें न तो मारता है और न पापसे बँधता है\* ॥ १७ ॥

**ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।  
 करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसङ्ग्रहः ॥**

\* जैसे अग्नि, वायु और जलके द्वारा प्रारब्धवश किसी प्राणीकी हिंसा होती देखनेमें आवे तो भी वह वास्तवमें हिंसा नहीं है, वैसे ही जिस पुरुषका देहमें अभिमान नहीं है और स्वार्थरहित केवल संसारके हितके लिये ही जिसकी सम्पूर्ण क्रियाएँ होती हैं, उस पुरुषके शरीर और इन्द्रियोंद्वारा यदि किसी प्राणीकी हिंसा होती हुई लोकदृष्टिमें देखी जाय, तो भी वह वास्तवमें हिंसा नहीं है; क्योंकि आसक्ति, स्वार्थ और अहंकारके न होनेसे किसी प्राणीकी हिंसा हो ही नहीं सकती तथा बिना कर्तृत्वाभिमानके किया हुआ कर्म वास्तवमें अकर्म ही है, इसलिये वह पुरुष 'पापसे नहीं बँधता'।

ज्ञाता<sup>१</sup>, ज्ञान<sup>२</sup> और ज्ञेय<sup>३</sup> — ये तीन प्रकारकी कर्म-प्रेरणा हैं और कर्ता<sup>४</sup>, करण<sup>५</sup> तथा क्रिया<sup>६</sup> — ये तीन प्रकारका कर्म-संग्रह है ॥ १८ ॥

**ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।  
प्रोच्यते गुणसङ्ख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥**

गुणोंकी संख्या करनेवाले शास्त्रमें ज्ञान और कर्म तथा कर्ता गुणोंके भेदसे तीन-तीन प्रकारके ही कहे गये हैं, उनको भी तू मुझसे भलीभाँति सुन ॥ १९ ॥

**सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।  
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥**

जिस ज्ञानसे मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतोंमें एक अविनाशी परमात्मभावको विभागरहित समभावसे स्थित देखता है, उस ज्ञानको तो तू सात्त्विक जान ॥ २० ॥

**पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।  
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥**

- 
१. जाननेवालेका नाम 'ज्ञाता' है।
  २. जिसके द्वारा जाना जाय, उसका नाम 'ज्ञान' है।
  ३. जाननेमें आनेवाली वस्तुका नाम 'ज्ञेय' है।
  ४. कर्म करनेवालेका नाम 'कर्ता' है।
  ५. जिन साधनोंसे कर्म किया जाय, उनका नाम 'करण' है।
  ६. करनेका नाम 'क्रिया' है।



किन्तु जो ज्ञान अर्थात् जिस ज्ञानके द्वारा मनुष्य सम्पूर्ण भूतोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारके नाना भावोंको अलग-अलग जानता है, उस ज्ञानको तू राजस जान ॥ २१ ॥

**यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।  
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥**

परन्तु जो ज्ञान एक कार्यरूप शरीरमें ही सम्पूर्णके सदृश आसक्त है तथा जो बिना युक्तिवाला, तात्त्विक अर्थसे रहित और तुच्छ है—वह तामस कहा गया है ॥ २२ ॥

**नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।  
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥**

जो कर्म शास्त्रविधिसे नियत किया हुआ और कर्तापनके अभिमानसे रहित हो तथा फल न चाहनेवाले पुरुषद्वारा बिना राग-द्वेषके किया गया हो—वह सात्त्विक कहा जाता है ॥ २३ ॥

**यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्गारेण वा पुनः ।  
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥**

परन्तु जो कर्म बहुत परिश्रमसे युक्त होता है तथा भोगोंको चाहनेवाले पुरुषद्वारा या अहंकारयुक्त पुरुषद्वारा

किया जाता है, वह कर्म राजस कहा गया है ॥ २४ ॥  
 अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।  
 मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥

जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्यको न विचारकर केवल अज्ञानसे आरम्भ किया जाता है, वह तामस कहा जाता है ॥ २५ ॥

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।  
 सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥

जो कर्ता संगरहित, अहंकारके वचन न बोलनेवाला, धैर्य और उत्साहसे युक्त तथा कार्यके सिद्ध होने और न होनेमें हर्ष-शोकादि विकारोंसे रहित है—वह सात्त्विक कहा जाता है ॥ २६ ॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।  
 हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥

जो कर्ता आसक्तिसे युक्त, कर्मोंके फलको चाहनेवाला और लोभी है तथा दूसरोंको कष्ट देनेके स्वभाववाला, अशुद्धाचारी और हर्ष-शोकसे लिस है—वह राजस कहा गया है ॥ २७ ॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।  
 विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥

जो कर्ता अयुक्त, शिक्षासे रहित, घमंडी, धूर्त और दूसरोंकी जीविकाका नाश करनेवाला तथा शोक करनेवाला, आलसी और दीर्घसूत्री<sup>१</sup> है—वह तामस कहा जाता है ॥ २८ ॥

**बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।  
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय ॥**

हे धनञ्जय! अब तू बुद्धिका और धृतिका भी गुणोंके अनुसार तीन प्रकारका भेद मेरे द्वारा सम्पूर्णतासे विभागपूर्वक कहा जानेवाला सुन ॥ २९ ॥

**प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।  
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥**

हे पार्थ! जो बुद्धि प्रवृत्तिमार्ग<sup>२</sup> और निवृत्ति-मार्गको<sup>३</sup>, कर्तव्य और अकर्तव्यको, भय और

१. 'दीर्घसूत्री' उसको कहा जाता है कि जो थोड़े कालमें होने लायक साधारण कार्यको भी फिर कर लेंगे, ऐसी आशासे बहुत कालतक नहीं पूरा करता।

२. गृहस्थमें रहते हुए फल और आसक्तिको त्यागकर भगवदर्पणबुद्धिसे केवल लोकशिक्षाके लिये राजा जनककी भाँति बरतनेका नाम 'प्रवृत्तिमार्ग' है।

३. देहाभिमानको त्यागकर केवल सच्चिदानन्दघन परमात्तामें एकीभावसे स्थित हुए श्रीशुकदेवजी और सनकादिकोंकी भाँति संसारसे उपराम होकर विचरनेका नाम 'निवृत्तिमार्ग' है।

अभयको तथा बन्धन और मोक्षको यथार्थ जानती है—वह बुद्धि सात्त्विकी है ॥ ३० ॥

**यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।  
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥**

हे पार्थ! मनुष्य जिस बुद्धिके द्वारा धर्म और अधर्मको तथा कर्तव्य और अकर्तव्यको भी यथार्थ नहीं जानता, वह बुद्धि राजसी है ॥ ३१ ॥

**अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।  
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥**

हे अर्जुन! जो तमोगुणसे घिरी हुई बुद्धि अधर्मको भी 'यह धर्म है' ऐसा मान लेती है तथा इसी प्रकार अन्य सम्पूर्ण पदार्थोंको भी विपरीत मान लेती है, वह बुद्धि तामसी है ॥ ३२ ॥

**धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।  
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥**

हे पार्थ! जिस अव्यभिचारिणी धारणशक्तिसे<sup>१</sup> मनुष्य ध्यानयोगके द्वारा मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको<sup>२</sup> धारण करता है, वह धृति सात्त्विकी है ॥ ३३ ॥

१. भगवद्विषयके सिवाय अन्य सांसारिक विषयोंको धारण करना ही व्यभिचारदोष है, उस दोषसे जो रहित है, वह 'अव्यभिचारिणी धारणा' है।

२. मन, प्राण और इन्द्रियोंको भगवत्प्राप्तिके लिये भजन, ध्यान और

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।  
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥

परंतु हे पृथापुत्र अर्जुन! फलकी इच्छावाला मनुष्य जिस धारणशक्तिके द्वारा अत्यन्त आसक्तिसे धर्म, अर्थ और कामोंको धारण करता है, वह धारणशक्ति राजसी है ॥ ३४ ॥

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।  
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥

हे पार्थ! दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य जिस धारणशक्तिके द्वारा निद्रा, भय, चिन्ता और दुःखको तथा उन्मत्तताको भी नहीं छोड़ता अर्थात् धारण किये रहता है—वह धारणशक्ति तामसी है ॥ ३५ ॥

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।  
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥  
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।  
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥

हे भरतश्रेष्ठ! अब तीन प्रकारके सुखको भी तू मुझसे सुन । जिस सुखमें साधक मनुष्य भजन, ध्यान और सेवादिके अभ्याससे रमण करता है और जिससे दुःखोंके अन्तको प्राप्त हो जाता है—जो ऐसा सुख

निष्काम कर्मोंमें लगानेका नाम 'उनकी क्रियाओंको धारण करना' है ।

है, वह आरम्भकालमें यद्यपि विषके तुल्य प्रतीत<sup>१</sup> होता है, परन्तु परिणाममें अमृतके तुल्य है; इसलिये वह परमात्मविषयक बुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न होनेवाला सुख सात्त्विक कहा गया है ॥ ३६-३७ ॥

**विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।  
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥**

जो सुख विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होता है, वह पहले—भोगकालमें अमृतके तुल्य प्रतीत होनेपर भी परिणाममें विषके तुल्य<sup>२</sup> है; इसलिये वह सुख राजस कहा गया है ॥ ३८ ॥

**यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।  
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥**

जो सुख भोगकालमें तथा परिणाममें भी आत्माको मोहित करनेवाला है—वह निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न सुख तामस कहा गया है ॥ ३९ ॥

१. जैसे खेलमें आसक्तिवाले बालकको विद्याका अभ्यास मूढ़ताके कारण प्रथम विषके तुल्य भासता है, वैसे ही विषयोंमें आसक्तिवाले पुरुषको भगवद्भजन, ध्यान, सेवा आदि साधनोंका अभ्यास मर्म न जाननेके कारण प्रथम 'विषके तुल्य प्रतीत होता' है।

२. बल, वीर्य, बुद्धि, धन, उत्साह और परलोकका नाशक होनेसे विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होनेवाले सुखको 'परिणाममें विषके तुल्य' कहा है।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।  
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥

पृथ्वीमें या आकाशमें अथवा देवताओंमें तथा इनके सिवा और कहीं भी ऐसा कोई भी सत्त्व नहीं है, जो प्रकृतिसे उत्पन्न इन तीनों गुणोंसे रहित हो ॥ ४० ॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप ।  
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥

हे परंतप! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंके तथा शूद्रोंके कर्म स्वभावसे उत्पन्न गुणोंद्वारा विभक्त किये गये हैं ॥ ४१ ॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।  
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥

अन्तःकरणका निग्रह करना, इन्द्रियोंका दमन करना, धर्मपालनके लिये कष्ट सहना, बाहर-भीतरसे शुद्ध\* रहना, दूसरोंके अपराधोंको क्षमा करना, मन, इन्द्रिय और शरीरको सरल रखना; वेद, शास्त्र, ईश्वर और परलोक आदिमें श्रद्धा रखना, वेद-शास्त्रोंका अध्ययन-अध्यापन करना और परमात्माके तत्त्वका अनुभव करना—ये सब-

\* गीता अ० १३ श्लोक ७ की टिप्पणीमें देखना चाहिये ।

के-सब ही ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं ॥ ४२ ॥  
**शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।  
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥**

शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता और युद्धमें न भागना, दान देना और स्वामिभाव—ये सब-के-सब ही क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म हैं ॥ ४३ ॥

**कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।  
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥**

खेती, गोपालन और क्रय-विक्रयरूप सत्य व्यवहार\*—ये वैश्यकके स्वाभाविक कर्म हैं। तथा सब वर्णोंकी सेवा करना शूद्रका भी स्वाभाविक कर्म है ॥ ४४ ॥

**स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।  
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥**

अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंमें तत्परतासे लगा

\* वस्तुओंके खरीदने और बेचनेमें तौल, नाप और गिनती आदिसे कम देना अथवा अधिक लेना एवं वस्तुको बदलकर या एक वस्तुमें दूसरी (खराब) वस्तु मिलाकर दे देना अथवा (अच्छी) ले लेना तथा नफा, आढ़त और दलाली ठहराकर, उनसे अधिक दाम लेना या कम देना तथा झूठ, कपट, चोरी और जबरदस्तीसे अथवा अन्य किसी प्रकारसे दूसरेके हकको ग्रहण कर लेना इत्यादि दोषोंसे रहित जो सत्यतापूर्वक पवित्र वस्तुओंका व्यापार है, उसका नाम 'सत्यव्यवहार' है।



हुआ मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है। अपने स्वाभाविक कर्ममें लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकारसे कर्म करके परम सिद्धिको प्राप्त होता है, उस विधिको तू सुन ॥ ४५ ॥

**यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।  
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥**

जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है<sup>१</sup>, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके<sup>२</sup> मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त हो जाता है ॥ ४६ ॥

**श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।  
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥**

अच्छी प्रकार आचरण किये हुए दूसरेके धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है; क्योंकि स्वभावसे

१. जैसे बर्फ जलसे व्याप्त है, वैसे ही सम्पूर्ण संसार सच्चिदानन्दघन परमात्मासे व्याप्त है।

२. जैसे पतिव्रता स्त्री पतिको ही सर्वस्व समझकर पतिका चिन्तन करती हुई, पतिके आज्ञानुसार पतिके ही लिये मन, वाणी, शरीरसे कर्म करती है, वैसे ही परमेश्वरको ही सर्वस्व समझकर परमेश्वरका चिन्तन करते हुए परमेश्वरकी आज्ञाके अनुसार मन, वाणी और शरीरसे परमेश्वरके ही लिये स्वाभाविक कर्तव्यकर्मका आचरण करना 'कर्मद्वारा परमेश्वरको पूजना' है।

नियत किये हुए स्वधर्मरूप कर्मको करता हुआ मनुष्य पापको नहीं प्राप्त होता ॥ ४७ ॥

**सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।  
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥**

अतएव हे कुन्तीपुत्र! दोषयुक्त होनेपर भी सहज\* कर्मको नहीं त्यागना चाहिये, क्योंकि धूँएँसे अग्निकी भाँति सभी कर्म किसी-न-किसी दोषसे युक्त हैं ॥ ४८ ॥

**असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।  
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां सन्यासेनाधिगच्छति ॥**

सर्वत्र आसक्तिरहित बुद्धिवाला, स्पृहारहित और जीते हुए अन्तःकरणवाला पुरुष सांख्ययोगके द्वारा उस परम नैष्कर्म्यसिद्धिको प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥

**सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।  
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥**

जो कि ज्ञानयोगकी परानिष्ठा है, उस नैष्कर्म्य

---

\* प्रकृतिके अनुसार शास्त्रविधिसे नियत किये हुए जो वर्णाश्रमके धर्म और सामान्य धर्मरूप स्वाभाविक कर्म हैं, उनको ही यहाँ 'स्वधर्म', 'सहजकर्म', 'स्वकर्म', 'नियतकर्म', 'स्वभावजकर्म', 'स्वभावनियतकर्म' इत्यादि नामोंसे कहा है।

सिद्धिको जिस प्रकारसे प्राप्त होकर मनुष्य ब्रह्मको प्राप्त होता है, उस प्रकारको हे कुन्तीपुत्र! तू संक्षेपमें ही मुझसे समझ ॥ ५० ॥

बुद्ध्या विशुद्ध्या युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।  
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥  
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।  
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥  
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।  
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

विशुद्ध बुद्धिसे युक्त तथा हलका, सात्त्विक और नियमित भोजन करनेवाला, शब्दादि विषयोंका त्याग करके एकान्त और शुद्ध देशका सेवन करनेवाला, सात्त्विक धारणशक्तिके\* द्वारा अन्तःकरण और इन्द्रियोंका संयम करके मन, वाणी और शरीरको वशमें कर लेनेवाला, राग-द्वेषको सर्वथा नष्ट करके भलीभाँति दृढ़ वैराग्यका आश्रय लेनेवाला तथा अहंकार, बल, घमण्ड, काम, क्रोध और परिग्रहका त्याग करके निरन्तर ध्यानयोगके परायण रहनेवाला, ममतारहित और शान्तियुक्त

\* इसी अध्यायके श्लोक ३३ में जिसका विस्तार है।

पुरुष सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित होनेका पात्र होता है ॥ ५१—५३ ॥

**ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।  
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥**

फिर वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित, प्रसन्न मनवाला योगी न तो किसीके लिये शोक करता है और न किसीकी आकांक्षा ही करता है। ऐसा समस्त प्राणियोंमें समभाववाला<sup>१</sup> योगी मेरी पराभक्तिको<sup>२</sup> प्राप्त हो जाता है ॥ ५४ ॥

**भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।  
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥**

उस पराभक्तिके द्वारा वह मुझ परमात्माको, मैं जो हूँ और जितना हूँ, ठीक वैसा-का-वैसा तत्त्वसे जान लेता है; तथा उस भक्तिसे मुझको तत्त्वसे जानकर तत्काल ही मुझमें प्रविष्ट हो जाता है ॥ ५५ ॥

**सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्द्व्यपाश्रयः ।  
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥**

१. गीता अ० ६ श्लोक २९ में देखना चाहिये।

२. जो तत्त्वज्ञानकी पराकाष्ठा है तथा जिसको प्राप्त होकर और कुछ जानना बाकी नहीं रहता, वही यहाँ 'पराभक्ति', 'ज्ञानकी परानिष्ठा', 'परम नैष्कर्म्यसिद्धि' और 'परमसिद्धि' इत्यादि नामोंसे कही गयी है।

मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है ॥ ५६ ॥

**चेतसा सर्वकर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्परः ।  
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥**

सब कर्मोंको मनसे मुझमें अर्पण करके\* तथा समबुद्धिरूप योगको अवलम्बन करके मेरे परायण और निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो ॥ ५७ ॥

**मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।  
अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥**

उपर्युक्त प्रकारसे मुझमें चित्तवाला होकर तू मेरी कृपासे समस्त संकटोंको अनायास ही पार कर जायगा और यदि अहंकारके कारण मेरे वचनोंको न सुनेगा तो नष्ट हो जायगा अर्थात् परमार्थसे भ्रष्ट हो जायगा ॥ ५८ ॥

**यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।  
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥**

जो तू अहंकारका आश्रय लेकर यह मान रहा है कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' तो तेरा यह निश्चय मिथ्या है; क्योंकि तेरा स्वभाव तुझे जबर्दस्ती युद्धमें लगा देगा ॥ ५९ ॥

\* गीता अ० ९ श्लोक २७ में जिसकी विधि कही है ।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।  
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥

हे कुन्तीपुत्र! जिस कर्मको तू मोहके कारण करना नहीं चाहता, उसको भी अपने पूर्वकृत स्वाभाविक कर्मसे बँधा हुआ परवश होकर करेगा ॥ ६० ॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।  
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

हे अर्जुन! शरीररूप यन्त्रमें आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमण कराता हुआ सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित है ॥ ६१ ॥

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।  
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥

हे भारत! तू सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही शरणमें\* जा। उस परमात्माकी कृपासे ही तू परम

\* लज्जा, भय, मान, बड़ाई और आसक्तिको त्यागकर एवं शरीर और संसारमें अहंता, ममतासे रहित होकर केवल एक परमात्माको ही परम आश्रय, परमगति और सर्वस्व समझना तथा अनन्यभावसे अतिशय श्रद्धा, भक्ति और प्रेमपूर्वक निरन्तर भगवान्के नाम, गुण, प्रभाव और स्वरूपका चिन्तन करते रहना एवं भगवान्का भजन, स्मरण रखते हुए ही उनके आज्ञानुसार कर्तव्यकर्मोंका निःस्वार्थभावसे केवल परमेश्वरके लिये आचरण करना यह 'सब प्रकारसे परमात्माके ही शरण' होना है।

शान्तिको तथा सनातन परमधामको प्राप्त होगा ॥ ६२ ॥  
इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।  
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥

इस प्रकार यह गोपनीयसे भी अति गोपनीय ज्ञान मैंने तुमसे कह दिया। अब तू इस रहस्ययुक्त ज्ञानको पूर्णतया भलीभाँति विचारकर, जैसे चाहता है वैसे ही कर ॥ ६३ ॥

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।  
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥

सम्पूर्ण गोपनीयोंसे अति गोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचनको तू फिर भी सुन। तू मेरा अतिशय प्रिय है, इससे यह परम हितकारक वचन मैं तुझसे कहूँगा ॥ ६४ ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।  
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥

हे अर्जुन! तू मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझको प्रणाम कर। ऐसा करनेसे तू मुझे ही प्राप्त होगा, यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है ॥ ६५ ॥

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज ।  
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

सम्पूर्ण धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको मुझमें त्यागकर तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरकी ही शरणमें<sup>१</sup> आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर ॥ ६६ ॥

**इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।  
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥**

तुझे यह गीतारूप रहस्यमय उपदेश किसी भी कालमें न तो तपरहित मनुष्यसे कहना चाहिये, न भक्ति<sup>२</sup> रहितसे और न बिना सुननेकी इच्छावालेसे ही कहना चाहिये; तथा जो मुझमें दोषदृष्टि रखता है उससे तो कभी भी नहीं कहना चाहिये ॥ ६७ ॥

**य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।  
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥**

जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्य-युक्त गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह मुझको ही प्राप्त होगा—इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ ६८ ॥

१. इसी अध्यायके श्लोक ६२ की टिप्पणीमें 'शरण' का भाव देखना चाहिये।

२. वेद, शास्त्र और परमेश्वर तथा महात्मा और गुरुजनोंमें श्रद्धा, प्रेम और पूज्य-भावका नाम 'भक्ति' है।



न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।  
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥

उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है; तथा पृथ्वीभरमें उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई भविष्यमें होगा भी नहीं ॥ ६९ ॥

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं सम्वादमावयोः ।  
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥

जो पुरुष इस धर्ममय हम दोनोंके संवादरूप गीताशास्त्रको पढ़ेगा, उसके द्वारा भी मैं ज्ञानयज्ञसे\* पूजित होऊँगा—ऐसा मेरा मत है ॥ ७० ॥

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।  
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥

जो मनुष्य श्रद्धायुक्त और दोषदृष्टिसे रहित होकर इस गीताशास्त्रका श्रवण भी करेगा, वह भी पापोंसे मुक्त होकर उत्तम कर्म करनेवालोंके श्रेष्ठ लोकोंको प्राप्त होगा ॥ ७१ ॥

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।  
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय ॥

हे पार्थ! क्या इस (गीताशास्त्र)-को तूने

\* गीता अध्याय ४ श्लोक ३३ का अर्थ देखना चाहिये।

एकाग्रचित्तसे श्रवण किया ? और हे धनंजय ! क्या तेरा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो गया ? ॥ ७२ ॥

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।  
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥

अर्जुन बोले—हे अच्युत ! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है, अब मैं संशयरहित होकर स्थित हूँ, अतः आपकी आज्ञाका पालन करूँगा ॥ ७३ ॥

सञ्जय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।  
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥

संजय बोले—इस प्रकार मैंने श्रीवासुदेवके और महात्मा अर्जुनके इस अद्भुत रहस्ययुक्त, रोमाञ्चकारक संवादको सुना ॥ ७४ ॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्ब्रह्ममहं परम् ।  
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥

श्रीव्यासजीकी कृपासे दिव्य दृष्टि पाकर मैंने इस परम गोपनीय योगको अर्जुनके प्रति कहते हुए स्वयं योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णसे प्रत्यक्ष सुना है ॥ ७५ ॥

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य सम्वादमिममद्भुतम् ।  
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥

हे राजन्! भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके इस रहस्ययुक्त, कल्याणकारक और अद्भुत संवादको पुनः-पुनः स्मरण करके मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ ॥ ७६ ॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।  
विस्मयो मे महान् राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥

हे राजन्! श्रीहरिके\* उस अत्यन्त विलक्षण रूपको भी पुनः-पुनः स्मरण करके मेरे चित्तमें महान् आश्चर्य होता है और मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ ॥ ७७ ॥

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।  
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥

हे राजन्! जहाँ योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण हैं और जहाँ गाण्डीव-धनुषधारी अर्जुन हैं, वहींपर श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है—ऐसा मेरा मत है ॥ ७८ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां  
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसन्न्यासयोगो

नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥



\* जिसका स्मरण करनेसे पापोंका नाश होता है, उसका नाम 'हरि' है ।

‘श्रीमद्भगवद्गीता’ आनन्दचिद्घन, षडैश्वर्यपूर्ण, चराचरवन्दित, परमपुरुषोत्तम साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णकी दिव्य वाणी है। यह अनन्त रहस्योंसे पूर्ण है। परम दयामय भगवान् श्रीकृष्णकी कृपासे ही किसी अंशमें इसका रहस्य समझमें आ सकता है। जो पुरुष परम श्रद्धा और प्रेममयी विशुद्ध भक्तिसे अपने हृदयको भरकर भगवद्गीताका मनन करते हैं, वे ही भगवत्कृपाका प्रत्यक्ष अनुभव करके गीताके स्वरूपकी किसी अंशमें झाँकी कर सकते हैं। अतएव अपना कल्याण चाहनेवाले नर-नारियोंको उचित है कि वे भक्तवर अर्जुनको आदर्श मानकर अपनेमें अर्जुनके-से दैवी गुणोंका अर्जन करते हुए श्रद्धा-भक्तिपूर्वक गीताका श्रवण, मनन, अध्ययन करें एवं भगवान्के आज्ञानुसार यथायोग्य तत्परताके साथ साधनमें लग जायँ। जो पुरुष इस प्रकार करते हैं, उनके अन्तःकरणमें नित्य नये-नये परमानन्ददायक अनुपम और दिव्य भावोंकी स्फुरणाएँ होती रहती हैं तथा वे सर्वथा शुद्धान्तःकरण होकर भगवान्की अलौकिक कृपासुधाका रसास्वादन करते हुए शीघ्र ही भगवान्को प्राप्त हो जाते हैं।

हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत्

